इकाई 7 प्रमाण निरूपण : प्रत्यक्ष प्रमाण

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 प्रत्यक्ष प्रमाण (सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो से प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम् पर्यन्त)

7.3 सारांश

7.4 शब्दावली

7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.6 अभ्यास प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- बुद्धि एवं उसके प्रकारों का जानकारी प्राप्त करेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण, स्वरूप तथा उसके भेदों के बारे में जान सकेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रक्रिया में उपयोगी षड्विध सन्निकर्ष का बोध प्राप्त करेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की पारिभाषिक शब्दावली तथा विशिष्ट प्रयोग विधि–विवेचन करने में समर्थ होंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा स्वाभिमत सैद्धान्तिक चिन्तन को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए तीन पद्धतियों का प्रयोग करती है – तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा। तत्त्वचिन्तन की इस प्रक्रिया में प्रमाणमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों (तत्त्वों) का ज्ञान सम्भव होता है। दर्शनसरणियों में यह प्रसिद्ध उक्ति भी है – 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् मेय (प्रमेय) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन होती है। प्रमा या यथार्थज्ञान की उपलब्धि किसी साधन की सहायता से ही होती है इसलिए सामान्य रूप से प्रमा की उपलब्धि के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं। 'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी तथ्य को उद्घाटित करती है – 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् जिससे प्रमा की प्राप्ति हो उसे प्रमाण कहते हैं। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन का कथन है – 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' अर्थात् उपलब्धि ज्ञान के साधन ही प्रमाण हैं।

भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमाणों की संख्या तथा उसके लक्षण एवं स्वरूप में अत्यन्त मतभेद है। चार्वाक दर्शन जहाँ केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान; सांख्य–योग एवं जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द; न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द; प्रभाकर मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति; भाट्ट मीमांसा एवं अद्वैतवेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव को प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

आचार्य अन्नम्भट्टकृत् 'तर्कसंग्रह' यद्यपि वैशेषिक दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ है तथापि इसमें न्यायदर्शनसम्मत चतुर्विध प्रमाणव्यवस्था का विवेचन किया गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान प्रमाण लिंगपरामर्श से जन्य होता है। संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। आप्तवाक्य से जन्य प्रमाण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

7.2 प्रत्यक्ष प्रमाण

'सर्वव्यवहारोहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा – स्मृतिरनुभवश्च।

व्याख्या : न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को गुण माना गया है। तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञानरूप बुद्धि से सभी प्राणियों का प्रवृत्ति, निवृत्ति, आहार–विहार आदि सभी प्रकार का व्यवहार होता है। बुद्धि के अभाव में प्राणी किसी भी प्रकार का व्यवहार करने में समर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि कोई भी व्यवहार तभी सफल एवं सम्भव होता है जब की व्यवहार करने वाले को व्यवहार किए जाने वाले विषय (वस्तु/पदार्थ) का बोध हो। जब तक वस्तु का ज्ञान प्राणी को नहीं होता है तब तक उसके सम्बन्ध में कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता है। न्याय–वैशेषिक मतानुसार मनुष्य का व्यवहार – 'हान, उपादान एवं उपेक्षा' रूप से तीन प्रकार का हुआ करता है। हान का अर्थ है कि किसी वस्तु का परित्याग, उपादान का अर्थ है किसी वस्तु का ग्रहण तथा उपेक्षा का अर्थ है ग्रहण–त्याग से भिन्न उदासीनता का भाव होना। यह त्रिविध व्यवहार तभी सम्भव होता है जब प्राणी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान बुद्धि से ही सम्पन्न किया जाता है इसीलिए बुद्धि को समस्त व्यवहारों का असाधारण कारण कहा जाता है।

प्रस्तुत लक्षण में यदि 'व्यवहारहेतुः' इतना ही लक्षण करते तो दण्ड आदि में भी बुद्धि का लक्षण चला जाता क्योंकि 'यह दण्ड है' इस व्यवहार के प्रति दण्ड भी हेतु है। इसलिए सर्व पद को लक्षण में रखा गया है, जिससे आ रहे दोष का निवारण किया जा सके। बुद्धि के इस लक्षण में निर्विकल्पक ज्ञान का समावेश नहीं होता है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान से किसी भी प्रकार का साक्षात् व्यवहार नहीं होता है। इसीलिए 'तर्कसंग्रहदीपिका' में इस लक्षण का परिष्कार करते हुए कहा गया है – 'जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्'। अर्थात् बुद्धि वह ज्ञान है जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूँ इस प्रकार के ज्ञान का) ज्ञान का विषय बनता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन की ज्ञानप्रक्रिया के अनुसार जब कोई ज्ञानकर्त्ता किसी भी पदार्थ (यथा–घट) का किसी भी प्रमाण की सहायता से ज्ञान करता है तो उसे 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होता है; यह निश्चयात्मक ज्ञान 'व्यवसाय' कहलाता है। इस व्यवसायात्मक ज्ञान के पश्चात् आत्मा में 'अहं घटं जानामि' इत्याकारक ज्ञान होता है, जिसे 'अनुव्यवसाय' कहा जाता है। बुद्धि (ज्ञान) इसी अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का विषय बनता है।

बुद्धि के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि बुद्धि दो प्रकार की होती है : (1) स्मृति तथा; (2) अनुभव।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि, बोध, प्रतीति, प्रत्यय– इन सभी को पर्याय माना जाता है जैसा कि न्यायसूत्रकार का वचन है –

'बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थान्तरम्'। बुद्धि इस दर्शन में स्वीकृत चतुर्विंशति गुणों में एक विशेष गुण है जो 'आत्मा' में समवाय सम्बन्ध से रहता है। स्मृति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है – संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। बुद्धि दो प्रकार की होती है – (1) स्मृति तथा (2) अनुभव।

इनमें से प्रथम भेद 'स्मृति' का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् संस्कार मात्र से जन्य उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यदि 'संस्कारमात्रजन्यं स्मृतिः' ऐसा लक्षण करें तो संस्कारध्वंस में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि संस्कार का ध्वंस भी संस्कार से जन्य होता है। इसलिए लक्षण में ज्ञानपद का समावेश किया गया है, क्योंकि संस्कारध्वंस ज्ञान नहीं है। यदि 'जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इतना ही लक्षण किया जाय तो घटादि के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि सभी प्रकार के ज्ञान में स्मृति का लक्षण चला जायेगा, जो अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'संस्कारमात्र' पद योजित किया गया है। स्मृति के इस लक्षण में 'मात्र' पद के रखने से 'प्रत्यभिज्ञा' में इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती है। प्रत्यभिज्ञा एक ऐसा ज्ञान है जो संस्कार एवं अनुभव दोनों से मिलकर उत्पन्न होता है इसलिए लक्षण में मात्र पद का निवेश कर देने से स्मृति की प्रत्यभिज्ञा में होने वाली अतिव्याप्ति रूक जाती है।

स्मृति के उत्पन्न होने की प्रक्रिया इस प्रकार है – जब कोई प्रमाता किसी प्रमाण की सहायता से किसी वस्तु का अनुभव प्राप्त करता है तो उस अनुभव का एक संस्कार (भावना) उसकी आत्मा में सूक्ष्म रूप से स्थित हो जाता है। कालान्तर में सादृश्य, चिन्ता, अदृष्ट आदि कारणों के उपस्थित होने पर यह संस्कार उद्‌बुध हो जाता है जिसे स्मृति कहा जाता है।

विशेष : स्मृति जिस संस्कार से उत्पन्न होती है, न्याय–वैशेषिक दर्शन में उसे 'भावना' कहा जाता है। भावना, अनुभव से उत्पन्न होती है तथा स्मृति को उत्पन्न करती है। अनुभव एवं स्मृति के मध्य में रहने के कारण भावना को स्मृति की प्रक्रिया में 'व्यापार' माना जाता है। व्यापार का लक्षण है – 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः' अर्थात् जो हेतु से उत्पन्न होकर कार्य का जनक हो, वह व्यापार कहलाता है।

तद्‌भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च। तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः। यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैव प्रमेत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैवाऽप्रमेत्युच्यते।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण वर्णित करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। बुद्धि दो प्रकार की होती है – (1) स्मृति तथा (2) अनुभव।

अनुभव की शाब्दिक व्युत्पत्ति है – 'अनु (पश्चात्) भवति इति अनुभवः'। प्रमाणव्यापार के पश्चात् जो ज्ञान होता है उसे अनुभव कहते हैं। 'अनुभव' का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'तद्‌भिन्नं ज्ञानमनुभवः' अर्थात् तद् (स्मृति) से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। स्मृति से अतिरिक्त सभी प्रकार के ज्ञान अनुभव कहलाते हैं। अनुभव

के इस लक्षण में यदि 'ज्ञानमनुभवः' इतना ही लक्षण करें तो स्मृति में भी अनुभव का लक्षण चला जायेगा और स्मृति में अतिव्याप्ति होने लगेगी। इस अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए लक्षण में 'तद्भिन्नम्' पद को जोड़ा गया है। अनुभव दो प्रकार का होता है – (1) यथार्थ अनुभव, (2) अयथार्थ अनुभव

यथार्थ अनुभव का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः' जिसमें जो है, वहाँ उसी प्रकार का जो अनुभव होता है, उसे यथार्थानुभव कहते हैं। आशय यह है कि कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से जानना ही यथार्थ अनुभव कहलाता है। जैसे – रजत में 'यह रजत है' इस प्रकार का ज्ञान यथार्थानुभव है। इसी यथार्थज्ञान को 'प्रमा' कहा जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन की ज्ञानमीमांसा के अनुसार जब भी हमें कोई विशिष्ट ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में तीन प्रकार की विषयता रहती है – (1) प्रकारता या विशेषणता, (2) विशेष्यता, (3) संसर्गता या सम्बन्ध। उदाहरण रूप में 'अयं रक्तो घटः' (यह लाल घड़ा है) यह एक विशिष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान में 'रक्त वर्ण', घट का विशेषण या प्रकार है अतः यह ज्ञान 'रक्तत्व प्रकारक' ज्ञान है। इसी ज्ञान में 'घट' विशेष्य है क्योंकि वही रक्त वर्ण से विशिष्ट है, अतः यह ज्ञान 'घटत्व विशेष्यक' भी है। विशेष्यभूत घट में प्रकारभूत रक्त वर्ण समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि रक्तवर्ण एक गुण है तथा घट एक द्रव्य (गुणी) है एवं न्याय–वैशेषिक दर्शन के नियमानुसार गुण–गुणी के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है; अतः 'अयं रक्तो घटः' यह ज्ञान 'समवाय संसर्गक' है। इस प्रकार 'अयं रक्तो घटः' का अर्थ है – 'रक्तत्वप्रकारक–समवायसंसर्गक–घटविशेष्यक ज्ञान'। अब यथार्थानुभव के लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा – तद्वति = घटत्ववति (घटत्व से युक्त), तत्प्रकारक= घटत्वप्रकारक (घटत्व है प्रकार जिसमें), अनुभवः यथार्थानुभवः। अर्थात् घट में जो घटत्व है, वही 'अयं घटः' इस ज्ञान में प्रकारतया भासित हो रही है, इसलिए यह यथार्थानुभव या प्रमा है।

अयथार्थ अनुभव का लक्षण है – 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः'। जिसमें जो नहीं है, वहाँ उसके होने का जो अनुभव है, उसे अयथार्थ अनुभव कहते हैं। आशय यह है कि कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से न जानना ही अयथार्थ अनुभव कहलाता है। जैसे – रज्जु में 'यह सर्प है' इस प्रकार का ज्ञान अयथार्थानुभव है। अयथार्थानुभव को अप्रमा भी कहते हैं। यथार्थानुभव के लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा – तदभाववति = सर्पत्वाभाववति (सर्पत्व के अभाव वाली), तत्प्रकारक = सर्पत्वप्रकारक (सर्पत्व है प्रकार जिसमें), अनुभवः (ज्ञान) अयथार्थानुभव है। अर्थात् रज्जु में सर्पत्व का अत्यन्ताभाव है किन्तु वही रज्जु को देखकर होने वाले 'अयं सर्पः' इस ज्ञान में प्रकारतया भासित हो रही है, इसलिए यह अयथार्थानुभव या अप्रमा है।

विशेष : न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार यथार्थानुभव (प्रमा) की उत्पत्ति 'गुणसहकृत प्रमाण' से होती है तथा अयथार्थानुभव (अप्रमा) की उत्पत्ति 'दोषसहकृत प्रमाण' से होती है। यथार्थानुभव – प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द के भेद से चार प्रकार का होता है तथा अयथार्थानुभव – संशय, विपर्यय एवं तर्क के भेद से तीन प्रकार का होता है।

यथार्थानुभश्चतुर्विधः प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दभेदात्।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नमभट्ट ने यथार्थानुभव का निरूपण इस प्रकार से किया है – 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः' जिसमें जो है, वहाँ उसी प्रकार का जो अनुभव होता है, उसे यथार्थानुभव कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द के भेद से यथार्थानुभव चार प्रकार का होता है। इन चारों ज्ञान के करण भी क्रमशः चार प्रकार के होते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

विशेष : यथार्थानुभव को ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'प्रमा' कहा जाता है। प्रमा के करण (असाधारण कारण) को ही 'प्रमाण' कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में 2 प्रमाण स्वीकृत हैं – प्रत्यक्ष तथा अनुमान जबकि न्यायदर्शन 4 प्रमाण स्वीकार करता है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। 'तर्कसंग्रह' न्याय–वैशेषिक समन्वयवादी परम्परा का एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें वैशेषिक दर्शन की पदार्थमीमांसा के साथ न्यायदर्शन की प्रमाणमीमांसा का विवेचन किया गया है।

असाधारणं कारणं करणम्। कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्। कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

व्याख्या : असाधारण कारण को करण कहते हैं। किसी भी कार्य के प्रति जो व्यापार का सम्पादक मुख्य असाधारण कारण है, वही करण माना जाता है। महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ में करण का लक्षण किया है – 'साधकतमं करणम्' अर्थात् साधकतम को करण कहते हैं। साधकतम पद में निविष्ट तमप् प्रत्यय 'अतिशय' अर्थ का वाचक है, अतः करण वह है जो किसी कार्य का अतिशयेन साधक हो। किसी कार्य के प्रकृष्ट या सर्वोत्कृष्ट कारण को ही करण कहते हैं।

कार्य–कारण के सम्बन्ध में यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारणों की आवश्यकता होती है। कोई भी कार्य किसी एक ही कारण से जन्य नहीं होता है। वे कारण जिनकी अपेक्षा प्रत्येक कार्य में हुआ करती है वे सभी 'साधारण कारण' कहलाते हैं। इन साधारण कारणों के अतिरिक्त जितने भी कारण किसी कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित होते हैं, उन्हें 'असाधारण कारण' कहते हैं। असाधारण कारणों में से जो कारण प्रकृष्ट अर्थात् अतिशययुक्त होता है उसे ही करण कहा जाता है। प्राचीन न्याय में इस अतिशयता को 'व्यापार' कहा जाता है तथा करण का लक्षण – 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्' किया जाता है। इसका अर्थ है कि व्यापार द्वारा जो किसी कार्य का असाधारण कारण बनता है, वही उस कार्य का करण होता है। व्यापार का लक्षण है – 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः' अर्थात् जो हेतु से उत्पन्न होकर कार्य का जनक हो, वह व्यापार कहलाता है। जैसे घट नामक कार्य की उत्पत्ति में 'कपालद्वयसंयोग' व्यापार है क्योंकि यह दण्डादि कारणों से उत्पन्न होकर उसी दण्डादि कारण से उत्पन्न घटरूपकार्य का जनक होता है। कपालद्वयसंयोगरूप व्यापार के द्वारा ही दण्ड, चक्र आदि घट की उत्पत्ति में असाधारण कारण बनते हुए 'करण' कहलाते हैं। नव्यनैयायिक इस परिभाषा से असहमत हैं तथा उनकी करण की परिभाषा है – 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' अर्थात् कार्य से निश्चित रूप से और तुरन्त पहले रहने वाला वह कारण जिसके तुरन्त बाद कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, वह 'करण' कहलाता है।

करण का लक्षण करते समय कारण पद का प्रयोग हुआ था, अतः अब आचार्य कारण का लक्षण कर रहे हैं – 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। जो कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहते हैं। कार्यनियत में नियत का अर्थ है निश्चित रूप से, वृत्ति का अर्थ रहना और पूर्वशब्द, काल का वाचक है। इस प्रकार लक्षण हुआ – जो कार्य उत्पन्न होता है, उससे ठीक पहले निश्चित रूप से जो विद्यमान हो, उसे कारण कहते हैं।

कारण के लक्षण में प्रयुक्त 'नियत' पद का अर्थ 'अवश्यंभावी' है। तात्पर्य यह है कि कभी–कभी कोई पदार्थ किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्यस्थल पर उपस्थित हो जाता है, इससे वह कार्य का 'पूर्ववृत्ति' तो हो जाता है किन्तु उसे उस कार्य का कारण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसे उस कार्य का कारण बनने के लिए 'कार्य नियत' (कार्य का व्यापक) होना चाहिए। यथा – घटनिर्माण के समय यदि कोई रासभ वहाँ उपस्थित हो जाए तो पूर्ववृत्ति होने के कारण उसे भी घटोत्पत्ति का कारण मानना पड़ेगा किन्तु रासभ को घट का कारण नहीं माना जाता है। इसी अतिव्याप्ति को रोकने के लिए कारण के लक्षण में 'नियत' पद का प्रयोग किया गया है। कारण के लक्षण में प्रयुक्त 'पूर्वभाव' पद का अर्थ 'कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना' है। 'अव्यवहित पूर्वक्षण' का अर्थ है – कार्योत्पत्ति का वह पूर्वक्षण, जिसके ठीक उत्तरक्षण में कार्य की उत्पत्ति हो जाती है।

कार्य का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'कार्यं प्रागभाव प्रतियोगि' अर्थात् प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति के पहले रहने वाले अभाव को प्रागभाव कहते हैं। जब कार्य उत्पन्न होता है तो वह अपने अभाव को दूर कर देता है इसीलिए उसे प्रागभाव का प्रतियोगी कहा जाता है।

विशेष : न्यायदर्शन में कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण को 'सामग्रीक्षण' भी कहा जाता है। सामग्री का अर्थ है – कार्योत्पत्ति के समग्र कारणों का उपस्थित होना। न्याय–वैशेषिक मत में 'प्रतियोगि' एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसकी कल्पना अभाव पदार्थ की भाव पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए की जाती है। भाव पदार्थों का अभाव के साथ सम्बन्ध ही प्रतियोगिता कहलाती है। जैसे – घट घटाभाव का प्रतियोगि है।

कारणं त्रिविधम्–समवाय्यमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा–तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणम् असमवायिकारणम्। यथा तन्तु संयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटगतरूपस्य च। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्, यथा–तुरीवेमादिकं पटस्य। तदेत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणम् तदेव करणम्।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट कारण का लक्षण करते हैं – 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। जो कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहते हैं। कारण के तीन भेद हैं – समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

इन त्रिविध कारणों में समवायिकारण का लक्षण है – 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्'। जिसमें समवायसम्बन्ध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहते हैं। जिस कारण में जो कार्य समवायसम्बन्ध से रहता है, वह कारण समवायिकारण कहलाता है। जैसे – तन्तु से पट का निर्माण होता है और जब तक पट रहे तब तक तन्तु रहता ही है अथवा जब तक तन्तु रहे तब तक पट रहता है। इस तरह पट रूप कार्य अपने कारण तन्तुओं में नित्यसम्बन्ध से रहता है। इसलिए तन्तु यहाँ पर पट का समवायिकारण है।

दूसरा उदाहरण में स्वगत रूप के प्रति स्वयं पट समवायिकारण होता है। पट के उत्पन्न होने के बाद उसी पट में रूप समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण स्वगतरूप के प्रति पट समवायिकारण बना। तन्तु से पट की उत्पत्ति होने पश्चात् एकक्षण विलम्ब से ही उसमें उत्पन्न होता है, क्योंकि पटरूप के प्रति पटरूप के

समवायिकारण होने से कार्य से पूर्व में कारण का होना आवश्यक है और कारण के बाद ही उससे कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है।

असमवायिकारण का लक्षण है – 'कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणम् असमवायिकारणम्'। कार्य अथवा कारण के साथ एक पदार्थ में समवायसम्बन्ध से रहने वाला जो कारण है, वह असमवायिकारण है। असमवायिकारण का दो प्रकार से लक्षण किया गया है – प्रथम कार्येण सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत्कारणं अर्थात् कार्य के साथ एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ जो कारण है, वह असमवायिकारण है। यथा – तन्तुसंयोग, पटात्मक कार्य के साथ एक पदार्थ तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कारण है और इसमें तन्तुओं का संयोग जो कारण है, वही असमवायिकारण हुआ। कार्य पट के साथ एकत्र तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ तन्तुसंयोग रूप कारण पट के प्रति असमवायिकारण होता है। असमवायिकारण का दूसरा प्रकार है – 'कारणेन सह एकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत्कारणम्' अर्थात् कारण के साथ एक ही पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ जो कारण है, वह भी असमवायिकारण है। यथा – तन्तुरूप, पटरूप का असमवायिकारण है अर्थात् पट के रूप का कारण है तन्तुओं का रूप। वह पट अपने कारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार तन्तु में स्थित रूप ही पटगत रूप के प्रति कारण है। वह तन्तुओं का रूप पट के रूप के प्रति असमवायिकारण है। अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एकत्र समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ कारण ही समवायिकारण है। प्रथम लक्षण के अनुसार अवयवों का संयोग और द्वितीय लक्षण के अनुसार अवयवी के गुण रूप आदि के प्रति अवयव के गुण रूप आदि असमवायिकारण होते हैं।

'निमित्तकारण' का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि समवायिकारण और असमवायिकारण इन दोनों कारणों से जो भिन्न कारण है, उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे कपडे बनाने में सहायक यन्त्र तुरी, वेमा आदि ये निमित्तकारण है।

समवायि, असमवायि एवं निमित्त तीनों कारणों में जो असाधारण कारण है, उसे ही करण कहा जाता है।

विशेष : कार्य के त्रिविध कारणों में समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। गुण या कर्म किसी कार्य के असमवायिकारण होते हैं। निमित्तकारण द्रव्य, गुण, कर्म के साथ कोई भी पदार्थ हो सकता है।

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणम् प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्द्विविधम् – निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथेदं किंचित्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा डित्थोऽयं श्यामोऽयमिति।

व्याख्या : प्रत्यक्ष का निरूपण करते हुए आचार्य अन्नम्भट्ट कहते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान का जो असाधारण कारण है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। चक्षु, रसन, श्रोत, घ्राण, त्वक् और मन इन छः इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष यह प्रमाण भी है और ज्ञान भी। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं।

तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 5 है – चक्षु, श्रोत, त्वक्, रसना एवं घ्राण। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय नियत विषय का ही ग्रहण करती है जैसे चक्षु रूप का, श्रोत शब्द का, त्वक् स्पर्श का, रसना रस का तथा घ्राण गन्ध का। जब कोई इन्द्रिय अपने

नियत विषय के साथ संयुक्त होती है तो उस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रदत्त लक्षण में सन्निकर्ष पद का अर्थ–संयोग आदि सम्बन्ध विशेष है एवं अर्थ पद का अर्थ विषय है। इन्द्रियों का उनके विषयों के साथ सन्निकर्ष होना प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है। यथा –

इन्द्रिय	अर्थ(विषय)	प्रत्यक्ष
घ्राण	गन्ध	घ्राणज
रसना	रस	रासन
चक्षु	रूप	चाक्षुष
त्वक्	स्पर्श	स्पार्शन (त्वाक्)
श्रोत्र	शब्द	श्रोतज
मन	सुखदुःख आदि	मानस

प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– (1) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, (2) सविकल्पक प्रत्यक्ष।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप है – 'निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्' अर्थात् निष्प्रकारक ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। न्याय–वैशेषिक मत में प्रकार का अर्थ विशेषण होता है, अतः प्रकारता का अर्थ 'विशेषणता' है। जो ज्ञान विशेषणता से रहित होता है वह निर्विकल्पक कहलाता है। निर्विकल्पक शब्द की व्युत्पत्ति है – 'निर्गतः विकल्पो यस्मात् स निर्विकल्पकः' अर्थात् जिससे समस्त विकल्प निकल गए हों वह निर्विकल्पक कहलाता है। निर्विकल्पक पद में प्रयुक्त 'विकल्प' का अर्थ है – 'नामजात्याद्ययोजना'। किसी ज्ञान में प्रतीत होने वाले नाम, जाति, गुण आदि को ही विकल्प कहा जाता है । जिस ज्ञान में नाम, जाति इत्यादि की प्रतीति नहीं हुआ करती है वही निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। आशय यह है कि जिस ज्ञान में वस्तु के केवल स्वरूप मात्र की अनुभूति होती है, उसकी किसी विशेषणता का अनुभव नहीं होता है उसे ही निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। उदाहरणरूप में अबोध बालक तथा किसी मूक व्यक्ति का ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के तुल्य होता है – 'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'। तर्कसंग्रहकार ने निर्विकल्पक ज्ञान का स्वरूप 'इदं किंचित्' (यह कुछ है) रूप से निरुपित किया है। किसी पदार्थ का प्रथम दर्शन होने पर जब हमें 'यह कुछ है' इस प्रकार से वस्तु के केवल अस्तित्व मात्र का अनुभव होता है तो वही ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान माना जाता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप है – 'सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्' अर्थात् सप्रकारक ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्पक शब्द की व्युत्पत्ति है – 'विकल्पेन सहितः सविकल्पः' अर्थात् जिसमें विकल्प विद्यमान हो वह सविकल्पक कहलाता है। सविकल्पक का अर्थ है – 'नामजात्याद्ययोजनासहितं सविकल्पकम्'। जो ज्ञान नाम, जाति आदि प्रकार से युक्त होता है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। आशय यह है कि जिस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा उनके मध्य के सम्बन्ध की प्रतीति होती है उसे ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। सविकल्पक ज्ञान का उदाहरण है – 'यह डित्थ है' – यहाँ डित्थ एक व्यक्तिविशेष का नाम है जो कि इस ज्ञान में भासित हो रहा है, इसलिए यह सविकल्पक ज्ञान है। इसी प्रकार 'यह श्याम है' इस ज्ञान में श्याम एक

वर्ण है जो किसी पदार्थ का विशेषण है, इसलिए यह भी सविकल्पक ज्ञान है। मानव जीवन का समस्त व्यवहार सविकल्पक ज्ञान के आधार पर ही होता है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार है – आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनिति अर्थात् सर्वप्रथम आत्मा मन से संयुक्त होती है, इसके बाद मन विषयानुरूप इन्द्रिय से संयुक्त होता है, पुनश्च इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होती है जिसके पश्चात् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। निर्विकल्पक ज्ञान को 'वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञान' तथा सविकल्पक ज्ञान को 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान' भी कहा जाता है। यद्यपि निर्विकल्पक ज्ञान से किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं होती है तथापि उसे पूर्व में स्वीकार किए बिना सविकल्पक ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस दर्शन में निर्विकल्पक ज्ञान की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जाती है।

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः – संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायय सन्निकर्षः। चक्षुः संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे, संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः। चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतम्, तत्र रूपत्वस्य समवायात्। श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः। कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। अभावप्रत्यक्षे विशेषविशेष्यभावः सन्निकर्षः। घटाभाववद् भूतलम् इत्यत्र चक्षुः संयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्। एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तत्करणम् इन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है । ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 5 है – चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना एवं घ्राण। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय नियत विषय का ही ग्रहण करती है जैसे चक्षु रूप का, श्रोत्र शब्द का, त्वक् स्पर्श का, रसना रस का तथा घ्राण गन्ध का। जब कोई इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ संयुक्त होती है तो उस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्य होने वाला यह सन्निकर्ष 6 प्रकार का होता है – (1) संयोग, (2) संयुक्तसमवाय, (3) संयुक्तसमवेतसमवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय, (6) विशेषणविशेष्यभाव

चक्षु इन्द्रिय से घट आदि द्रव्य के प्रत्यक्षज्ञान में संयोग नामक सन्निकर्ष होता है। सभी इन्द्रिय द्रव्य ही हैं। यदि इन्द्रियों के विषय भी द्रव्य ही हैं तो उन इन्द्रियों और विषयों का सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष ही होता है क्योंकि द्रव्ययोः संयोगः अर्थात् द्रव्यों का संयोग ही होता है ऐसा नियम है। चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट नामक द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है तो वहाँ संयोग सन्निकर्ष ही होता है। चक्षुरिन्द्रिय तैजस द्रव्य है और घट पार्थिव द्रव्य है। उन दोनों के संयोग सन्निकर्ष से चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। ज्ञान की एक प्रक्रिया होती है, जिस प्रक्रिया के निर्विघ्न समाप्ति होने पर ही ज्ञान होता है। किसी भी ज्ञान होने के लिए पहले आत्मा से संयुक्त मन इन्द्रिय से जुड़ता है और मन से संयुक्त इन्द्रिय अर्थ (विषय) से जुडता है, उसके उपरान्त ज्ञान होता है।

चक्षु–इन्द्रिय से घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्त–समवाय–सन्निकर्ष होता है। पृथिवी आदि द्रव्यों में समवाय से विद्यमान गुण, क्रिया, जाति का इन्द्रिय के साथ जो सन्निकर्ष होता है, वह संयुक्त समवाय होता है क्योंकि चक्षु संयुक्त घट में समवाय सम्बन्ध से स्थित गुणभूत रूप के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय नामक सन्निकर्ष ही रहता

है। चक्षु से संयुक्त घट गुणी द्रव्य गुणी द्रव्य है और घट में विद्यमान रूप गुण ही है। अतः वह समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, क्योंकि गुण और गुणी का समवायसम्बन्ध होता है। इस प्रकार गुणों का द्रव्यसमवेत का प्रत्येक प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है।

चक्षु से रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त–समवेत–समवाय–सन्निकर्ष माना जाता है। चक्षु के द्वारा संयुक्त घट है, घट में रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है और उसी रूप में रूपत्व जाति भी समवाय सम्बन्ध से ही है। इस प्रकार द्रव्यसंयुक्तसमवेत समवेत के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है।

श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द नामक गुण के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवाय नामक सन्निकर्ष होता है। विषय उस इन्द्रिय का गुण है तो गुणगुणिनोः समवायः इस नियम के अनुसार इन्द्रिय और विषय का समवाय सन्निकर्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय कर्णविवरवर्ती आकाशरूप है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का समवाय सन्निकर्ष होता है।

श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। विषय उसी इन्द्रिय का गुणरूप हो तो उस गुण में विद्यमान जाति का उसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से शब्द से शब्द है, उसी शब्द में समवाय सम्बन्ध से शब्दत्व जाति है। इस प्रकार शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवेतसमवाय सन्निकर्ष हुआ।

अभाव के प्रत्यक्षज्ञान में विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष माना जाता है। जब 'घटाभाववद् भूतलम्' इस तरह प्रतीति होती है, तब घटाभाव विशेषण है, भूतल विशेष्य। जब भूतले घटो नास्ति इस तरह की प्रतीति होती है, तब भूतल विशेषण होता है और घटाभाव विशेष्य। इस प्रकार अभाव के प्रत्यक्षज्ञान में विशेषण–विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है।

संयोग आदि छः सन्निकर्षों से उत्पन्नज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस ज्ञान की करण इन्द्रियाँ है। अत एव इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

विशेष– छः सन्निकर्षों से होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है। एतादृश प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति व्यापार वाला असाधारण कारण छः प्रकार की इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्हीं से हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

7.3 सारांश

तत्त्वचिन्तन की प्रक्रिया में प्रमाणमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों (तत्त्वों) का ज्ञान सम्भव होता है। दर्शनसरणियों में यह प्रसिद्ध उक्ति भी है – 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् मेय (प्रमेय) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन होती है। प्रमा या यथार्थज्ञान की उपलब्धि किसी साधन की सहायता से ही होती है इसलिए सामान्य रूप से प्रमा की उपलब्धि के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को गुण माना गया है। तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। अभिप्राय यह है ज्ञानरूप बुद्धि से सभी प्राणियों का प्रवृत्ति, निवृत्ति, आहार–विहार आदि सभी प्रकार का व्यवहार होता है। बुद्धि के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि बुद्धि दो प्रकार की

होती है – (1) स्मृति तथा (2) अनुभव। संस्कार मात्र से जन्य उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। स्मृति से अतिरिक्त सभी प्रकार के ज्ञान अनुभव कहलाते हैं। अनुभव दो प्रकार का होता है – (1) यथार्थ अनुभव (2) अयथार्थ अनुभव।

कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से जानना ही यथार्थ अनुभव कहलाता है। यथार्थानुभव को ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'प्रमा' कहा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द के भेद से यथार्थानुभव चार प्रकार का होता है। कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से न जानना ही अयथार्थ अनुभव कहलाता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में असाधारण कारण को करण कहते हैं। किसी भी कार्य के प्रति जो व्यापार का सम्पादक मुख्य असाधारण कारण है, वही करण माना जाता है। 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्' – जो कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहते हैं। कार्यनियत में नियत का अर्थ है निश्चित रूप से, वृत्ति का अर्थ रहना और पूर्वशब्द, काल का वाचक है। इस प्रकार लक्षण हुआ – जो कार्य उत्पन्न होता है, उससे ठीक पहले निश्चित रूप से जो विद्यमान हो, उसे कारण कहते हैं । कारण के तीन भेद हैं – समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

प्रत्यक्षज्ञान का जो असाधारण कारण है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 5 है – चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना एवं घ्राण। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय नियत विषय का ही ग्रहण करती है जैसे चक्षु रूप का, श्रोत्र शब्द का, त्वक् स्पर्श का, रसना रस का तथा घ्राण गन्ध का। जब कोई इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ संयुक्त होती है तो उस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है – (1) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, (2) सविकल्पक प्रत्यक्ष

किसी ज्ञान में प्रतीत होने वाले नाम, जाति, गुण आदि को ही विकल्प कहा जाता है। जिस ज्ञान में नाम, जाति इत्यादि की प्रतीति नहीं हुआ करती है वही निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। जो ज्ञान नाम, जाति आदि प्रकार से युक्त होता है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। आशय यह है कि जिस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा उनके मध्य के सम्बन्ध की प्रतीति होती है उसे ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्य होने वाला यह सन्निकर्ष 6 प्रकार का होता है – (1) संयोग, (2) संयुक्तसमवाय, (3) संयुक्तसमवेतसमवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय, (6) विशेषणविशेष्यभाव।

चक्षु इन्द्रिय से घट आदि द्रव्य के प्रत्यक्षज्ञान में संयोग नामक सन्निकर्ष होता है। चक्षु–इन्द्रिय से घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्त–समवाय–सन्निकर्ष होता है। चक्षु से रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त–समवेत–समवाय–सन्निकर्ष माना जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द नामक गुण के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवाय नामक सन्निकर्ष होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। अभाव के प्रत्यक्षज्ञान में विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष माना जाता है। छः सन्निकर्षों से होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है। एतादृश प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति व्यापार वाला असाधारण कारण छः प्रकार की इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

7.4 शब्दावली

प्रमा, प्रमाण, कारण, करण, अवान्तरव्यापार , प्रत्यक्ष, सन्निकर्ष, बुद्धि, ज्ञान, समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण, प्रागभाव, प्रतियोगि, इन्द्रिय, अर्थ, षड्विध सन्निकर्ष।

7.5 उपयोगी पुस्तकें

- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012।
- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकापदकृत्यतर्कमीमांसासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2013।
- भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969।
- Tarksangraha of Annambhatta (with Dipika & Nyayabodhini), (Ed. & Tr.) Athalye & Bodas, Mumbai, 1930.

7.6 अभ्यास प्रश्न

1) बुद्धि एवं उसके भेदों का निरूपण कीजिए?
2) स्मृति का लक्षण देते हुए स्मरण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए?
3) अनुभव तथा इसके भेदों का विशद विवेचन कीजिए?
4) करण, कारण एवं कारण के त्रिविध प्रकारों का निरूपण कीजिए?
5) प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का विवेचन कीजिए?
6) प्रत्यक्ष के द्विविध भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए?
7) षड्विध सन्निकर्ष का वर्णन कीजिए?